

# उपनिषद काल की शिक्षा पद्धति में गुरु—शिष्य सम्बन्ध

## सारांश

वैदिक साहित्य में शिक्षा शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है यथा विद्या ज्ञान, प्रबोध एवं विनय आदि। इस युग में शिक्षा शब्द का प्रयोग व्यापक और संकुचित दोनों अर्थों में किया गया। व्यापक अर्थ में मनुष्य को उन्नत और सभ्य बनाना ही शिक्षा है, शिक्षा की यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय उस औपचारिक शिक्षा से लिया जाता है प्रत्येक बालक अपने प्रारम्भिक जीवन के कुछ वर्षों में गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करता हुआ अपने गुरु को प्राप्त करता है।

**मुख्य शब्द :** वैदिक साहित्य, उपनिषद, ऋग्वेद काल प्रस्तावना

‘भारत में प्राचीन शिक्षा का प्रारम्भ ऋग्वेद के रचना काल (लगभग 2500 ई० पू०) से माना जाता है। बौद्ध काल के प्रारम्भ होने के पहले वाले सम्पूर्ण काल खण्ड को वैदिक काल की संज्ञा दी जाती है। कुछ इतिहास वेत्ताओं ने इसे ब्राम्हण काल की संज्ञा दी है क्योंकि इस अवधि में समाज तथा शिक्षा व्यवस्था दोनों में ब्राम्हणों की प्रधानता रही है। परन्तु इस काल को वैदिक काल कहना ही अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि इस अवधि में वेदों की ही महत्ता रही है।

कुछ विद्वानों ने इस काल को कई उपकालों में विभक्त किया है। जैसे ऋग्वेद काल, ब्राम्हण काल, उपनिषद काल, सूडा काल तथा स्मृति काल आदि। परन्तु इन सभी उपकालों में वेदों की प्रधानता रही। अतः इस सम्पूर्ण काल को वैदिक काल कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।<sup>1</sup>

भारतीय समाज में प्राचीन काल से शिक्षा अथवा विद्या का स्वरूप अत्यन्त ज्ञानपरक, सुव्यवस्थित और सुनियोजित रहा है, जिसमें व्यक्ति के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाती थी। शिक्षा से मनुष्य का जीवन विशुद्ध, प्रज्ञा सम्पन्न, परिष्कृत और समुन्नत ही नहीं होता, बल्कि मनुष्य और समाज नैतिक मूल्यों से युक्त एवं ऊँचे आदर्शों से संचालित होते हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा का उदय वेदों से माना जाता है।<sup>2</sup>

वेदों को भारतीय जीवन—दर्शन का श्रोत माना जाता है। वेदों का मुख्य विषय यज्ञीय विधि विधान है। वैदिक शिक्षा पद्धति का उद्देश्य छात्रों की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करना था। तदयुगीन शिक्षा की व्यापकता एवं महत्ता पर ऋग्वेद का ‘सरस्वती—सूक्त’ पर्याप्त प्रकाश डालता है—

“पावका नः सरस्वती वाजेमिर्ता जिनीवती

यज्ञे वष्टु धिया वसुः

वेदयिज्ञी सूनृतानां चेतयन्ती सुमतीनाम

यज्ञे—यज्ञे सरस्वती”<sup>3</sup>

अर्थात् विद्या हमें पवित्र करने वाली है, अन्न देने के कारण अन्न वाली भी है, बुद्धि से होने वाले अनेक कर्मों से धन देने वाली (यह विद्या हमारे) यज्ञ को सफल बनावे। सत्य से होने वाले कर्मों की प्रेरणा देने वाली, सुमत्तियों को बनाने वाली यह विद्या देवी (शुभ कर्मों को धारण करने वाली) हमारे यज्ञ को धारण करती है। वैदिक कालीन शिक्षा के उद्देश्य के विषय में अल्टेकर का मत है कि—‘वैदिक युगीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य एवं आदर्श ईश्वर भक्ति और धार्मिकता की भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन, ‘नागरिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार करना था।<sup>4</sup>

वेदों द्वारा ही हमें प्राचीन भारतीय शिक्षा की समस्त विशिष्टताओं की जानकारी मिलती है। ‘वेद’ शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के विद् धातु से हुई है जिसका अर्थ है जानना, वेदों की रचना किसके द्वारा की गई और कब हुई यह

## आत्म प्रकाश त्रिपाठी

प्रवक्ता,

बी०ए०० विभाग,

स० वि० म० वि० एवं प्रौ० महा

वि०, लालगंज

प्रतापगढ़

अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। वेदों के लिए ग्रंथों में "अपौरुषेय" शब्द का उल्लेख मिलता है अर्थात् ये मनुष्य की कृति नहीं है वरन् रचना ईश्वर द्वारा प्राप्त की गई है इसीलिए बहुत समय तक वेदों को लिपिबद्ध करना पाप समझा गया लेकिन धीरे-धीरे जब लिपि का व्यापक रूप से विकास हुआ तब वेदों को लिपिबद्ध किया गया वेदों के अन्तर्गत ऋचाओं (मंत्रों) का संग्रह देखने को मिलता है जो मंत्र पद्य रूप में थे उन्हें 'ऋक' की संज्ञा दी गयी जिनको 'गेय' रूप में उच्चारित किया गया है वे 'साम' कहलाये और गद्यात्मक रूप के मंत्र 'यजुः' कहलाये और इसी आधार पर ये ऋग्वेद सामवेद, यजुर्वेद के नाम से जाने गये और चौथे वेद का अथर्व वेद के रूप में स्वीकार किया गया। जिसमें जादू, टोना, स्वास्थ्य एवं वशीकरण से सम्बन्धित मंत्रों का संग्रह मिलता है। उत्तर भारत में इन चारों वेदों को मान्यता मिली किन्तु दक्षिण भारत में तीन वेद (ऋक, यजुः, साम) को ही मान्यता दी गई। वास्तव में वेद विश्व के प्राचीनतम साहित्य के अन्तर्गत आते हैं, भारतीय शिक्षा का अदि श्रोत वेद ही थे, इन्हीं के आधार पर भारतीय जीवन दर्शन का विकास हुआ।<sup>5</sup>

वास्तव में वैदिक शिक्षा का तात्पर्य उस प्रकार से था जिससे व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके और वह धर्म के मार्ग पर चलकर मानव जीवन के चरम-लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके।<sup>6</sup>

वैदिक काल में गुरु और शिष्य के मध्य बहुत सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे, जो उस काल की शिक्षा की विशेषताओं में से एक प्रमुख विशेषता के रूप में माने जाते हैं। गुरु शिष्य को पुत्रवत् मानते हुए उसके समस्त बौद्धिक व अध्यात्मिक विकास को अपना कर्तव्य समझते थे। शिष्य की आवश्यकताओं की समस्त सामग्रियाँ उसे उपलब्ध कराते थे, इस कार्य में गुरु माताएँ भी अपना पूरा सहयोग देती थीं। गुरु का व्यवहार अपने शिष्य के प्रति पक्षपात रहित होता था। गुरु अपने शिष्य के प्रति पूर्ण समर्पित रहते थे।

जिस तरह से गुरु अपने शिष्य के प्रति कर्तव्यबद्ध एवं समर्पित थे उसी प्रकार शिष्य के भी अपने गुरु के प्रति कुछ कर्तव्य थे। शिष्य के लिए गुरु उसके आदर्श थे, गुरु आदेश, गुरु आज्ञा शिरोधार्य समझी जाती थी। ऐसे अनेक उदाहरण दृष्टव्य हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। गुरुकुल में रहते हुए शिष्य के प्रति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अनिवार्य होता था। गुरुकुल के आन्तरिक एवं वाह्य दोनों प्रकार के कार्यों को शिष्य पाठ्यक्रम के अंग के रूप में स्वीकार करता था। ब्रह्म मुहूर्त में उठना, शौचादि से निवृत्त हो गुरु के लिए स्नानादि की व्यवस्था करना गायों की देखरेख करना तथा गुरु एवं स्वयं की उदरपूर्ति हेतु भिक्षाटन के लिए निकलना प्रमुख कार्यों में से था। भिक्षाटन से लौटने के उपरान्त गुरु के भोजन के पश्चात् गुरु आज्ञा से अन्न ग्रहण करना उसकी दैनिक चर्या थी। इस प्रकार कठोर एवं अनुशासित ढंग से शिक्षा ग्रहण करते हुए वे 12 वर्ष की अवधि गुरुकुल में ही व्यतीत करते थे। दोनों के मध्य पारस्परिक मधुर सम्बन्ध ही शिक्षा प्राप्ति का सेतु बनते थे, गुरु की गरिमा को देखते हुए ही प्राचीन मनीषियों ने गुरु

के लिए 'मानसपिता' (Spiritual Father) शब्द का उल्लेख किया है।<sup>7</sup>

वैदिक युग में शिक्षकों के लिए गुरु एवं आचार्य जैसे शब्द मिलते हैं।<sup>8</sup>

यह पद आराध्य के रूप में अत्यन्त आदरयुक्त, गरिमामयी एवं प्रतिष्ठित था। ऋग्वेद में अग्नि और इन्द्र जैसे देवताओं को गुरु अथवा आचार्य के रूप में उल्लिखित किया गया है, जो 'विश्ववेदा' (सर्वज्ञ), 'सत्यमन्या' (सत्य जानने वाला), 'विश्वानि वयुनानि विद्वान' (विभिन्न विद्याओं में पारंगत) जैसी अनेक विशेषताओं से अभिहित किया है।<sup>9</sup> ऋग्वैदिक आचार्य दिव्य और अलौकिक ज्ञान के प्रतीक थे। वे व्यक्ति और समाज को शिक्षित नहीं करते थे बल्कि बौद्धिक और आध्यात्मिक ज्ञान में भी पारंगत करते थे। 'अथर्ववेद' में कहा गया है कि 'वह उपनयन संस्कार के समय शिष्य को गर्भ में धारण करता था। और तीन रात तक अपने उदर में धारण करके उसका पोषण करता था। तथा चौथे दिन उसको जन्म प्रदान करता था।' ( आचार्य उपनयनानां ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भन्तः। तं रात्री स्तिसु उदरे विभीर्ति तं जातुं द्रष्टुमभिमयन्ति देवाः।।)<sup>10</sup>

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य की गरिमा जन्म देने वाली मां से कम नहीं थी। प्राचीन शिक्षण पद्धति में आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, अध्यापक, श्रोत्रिय, गुरु, ऋत्विक्, चरक जैसे गुरुओं के स्वरूपों का पता चलता है।<sup>11</sup> ये सभी शिक्षक वैदिक युगीन शिक्षा प्रणाली को संचालित कर रहे थे। वैदिक कालीन प्रमुख शिक्षा मनीषियों में मनु, कश्यप, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, बृहस्पति, शुक्राचार्य, भारद्वाज, अत्रि, कण्व, भृगु, व्यवन तथा शौनिक आदि नाम प्रमुख थे।<sup>12</sup>

वैदिक युग में शिक्षण का कार्य तदयुगीन विद्वान एवं चरित्रवान ब्राम्हण सम्पन्न करते थे। गुरु आदर्श नागरिकों के जनक एवं राष्ट्र के निर्माता माने जाते थे। वैदिक काल में गुरु मुख्य रूप से दो कोटियों में विभक्त थे—

1. गृहवासी शिक्षक इस वर्ग के अन्तर्गत प्रत्येक ब्राम्हण ही शिक्षक था। वैदिक युग में ब्राम्हण शब्द वर्ण का प्रतीक होने की अपेक्षा शिक्षक, गुरु अथवा पण्डित का परिचायक अधिक था। प्रत्येक ब्राम्हण अपने ही घर में अपने पुत्रों, पौत्रों एवं भतीजों आदि को विद्या दान करते थे। यह तदयुगीन शिक्षा प्रणाली का कौटुम्बिक रूप था।
2. आश्रमवासी शिक्षक इस वर्ग के अन्तर्गत, ऋषि, मनीषी, मुनि अथवा विप्रगण आते थे। ये गुरु ग्राम्य एवं नगरीय वातावरण से दूर जंगलों में आश्रम बनाकर साधना करते थे साथ ही साथ ज्ञान पिपासु शिष्यों को विद्यादान भी करते थे। वे गुरु जो 10,000 ब्रह्मचारियों को विद्यादान के साथ अन्न-वस्त्र आदि की भी व्यवस्था करते थे, 'कुलपति' कहलाते थे।<sup>13</sup>

उपनिषद् काल के प्रमुख शिक्षकों में ऐतरेय, पिप्पलाद, श्वेताश्वर, कुशीतक, शांडिल्य, सनत्कुमार, वामदेव, अश्वपति, ककय, सत्यकाम जाबाल, जनक, अजातशत्रु याज्ञवल्क्य, उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु तथा मैत्रेयी आदि थे।<sup>13</sup>

वैदिक युगीन शिक्षण पद्धति समूह परक न होकर व्यक्तिपरक थी। अतः तदयुगीन प्रत्येक विद्यार्थी पर पृथक् रूप से ध्यान दिया जाता था। वैदिक युग में छः प्रकार के विद्यार्थी विद्या प्राप्ति के अधिकारी माने जाते थे।<sup>14</sup>

1. शिष्य,
2. धारणा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति,
3. धन देने वाला,
4. पुत्र,
5. वेदाध्यायी,
6. वह जो एक विद्या सीखकर दूसरी विद्या सीखने की भी इच्छा रखता हो। वैदिक युगीन शिक्षा व्यवस्था में छात्र दो कोटियों में विभाजित थे।

#### गृहवासी छात्र

घर में पिता, बाबा, चाचा, ब्राम्हण, से विद्यार्जन करने वाला विद्यार्थी गृहवासी कहलाता था। इस कोटि में पुत्र, पौत्र एवं भतीजे आदि शामिल थे।

#### अन्तेवासी छात्र

अन्तेवासी वे छात्र थे जो गुरु के आश्रम में वर्षों रहते थे। ये छात्र गृह में रहने के लिए दूर क्षेत्रों से आते थे। इन शिष्यों में राजकुमार, साधारण नागरिकों के बच्चे एवं गरीब प्रकार के छात्र सम्मिलित थे। वे छात्र आचार्य 'कुलवासी' कहलाते थे। (त्रयों धर्मस्कन्धा यज्ञोध्ययन दानमिति। प्रथमस्तप एवं द्वितीयों ब्रम्हचर्याचार्य कुलवासी)<sup>15</sup> तदयुगीन अन्तेवासी वर्तमान छात्रावासों में रहने वाले छात्र से साम्य रखते थे। सम्भवतः कुछ छात्र ऐसे भी रहे होंगे जो प्रतिदिन ग्राम या नगर (पुरों) से आकर आश्रम में विद्यार्जन करते रहे होंगे।

गुरु अध्ययन के लिए आने वाले शिष्य की कुछ मास तक परीक्षा लेता था कि वह ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी है अथवा नहीं। आदर्श विद्यार्थियों से कतिपय गुणों की अपेक्षा की जाती थी जैसे—विद्यार्थी में धृति (धैर्य) क्षमा, दम (इंद्रिय संयम), अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, सत्य, अक्रोध, पॉच यम (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रम्हचर्य) तथा पॉच नियम (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान) का होना अति आवश्यक था।<sup>16</sup>

शिष्य के लिए यह अत्यावश्यक गुण माना जाता था कि वह विद्यार्जन के लिए तीव्र जिज्ञासु हो।<sup>17</sup> जिस प्रकार जंगल में हिरन जल की खोज में घूमता है उसी प्रकार विद्या प्राप्ति के लिए इच्छुक तरुणों को ज्ञान की खोज में आचार्याश्रमों में पहुँचना चाहिए। शिष्य के लिए यह आवश्यक था कि वह विनयशील एवं मृदुभाषी हो।<sup>18</sup> शिष्य के लिए यह भी आवश्यक था कि वह ब्रम्हचर्य का पालन करने वाला, सेवा पराण, धैर्यवान एवं सहयोगी वृत्ति का हो।

शिष्य को अप्रमादी, अहिंसक, गर्व रहित एवं सजग होना चाहिए। शिष्य अपने उदात्त गुणों के द्वारा गुरु का सर्वदा सम्मान एवं आदर करता था। ब्रम्हचर्य का पालन करना शिष्य का परम कर्तव्य था। समिधा, मेखला, मृगचर्म (कार्ष्ण वासनाः) आदि धारण करते हुए ब्रम्हचारी अपने व्रतों का पालन करता था।<sup>19</sup> शिष्य का यह कर्तव्य होता था कि वह गुरु से विद्या दान हेतु प्रार्थना करे, गुरु के चरणों को प्रणाम करके अति आदरपूर्वक अनुरोध करे 'हे वाणी प्रदान करने वाले गुरुदेव, मुझे वेदमंत्र समूहों का

साक्षात् ज्ञान कराइये, उनके प्रत्येक पद की व्याख्या करिये, ब्रम्हचारियों को अपने कुल में बसाने वाले, ब्रम्हज्ञान, ब्रम्हचर्य एवं यज्ञ कर्म के द्वारा मुझमें आत्मबल एवं ईश्वरोपासना का भाव बढ़ाइये तथा हम अधीनस्थ ब्रम्हचारियों, संतानों को तीक्ष्ण बुद्धि एवं तपस्या से शिक्षित करिये। (स्तोमां अभि स्वराभि गृणीहचा रूप ब्रम्ह। च नो बसो सचेन्द्र यज्ञं च बहचि।।)<sup>20</sup> इस प्रकार की प्रार्थना के द्वारा शिष्य को गुरु की अनुकम्पा प्राप्त करनी पड़ती थी। वैदिक युग में शिष्य को त्रिमूर्धा अथवा 'माता—पिता—गुरु' का ज्ञानानुभव रखने वाला कहा जाता था।<sup>21</sup> अतः शिष्य के लिए गुरु की महत्ता माता—पिता के तुल्य समझी जाती थी। तदयुगीन समाज में यह धारणा व्याप्त थी कि माता शरीर देने के कारण जननी है, पिता पोषण करने के कारण जनक है एवं गुरु मस्तिष्क, चरित्र एवं व्यक्तित्व का निर्माता है। अतः वह बालक का आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं मानसिक जनक है।<sup>22</sup> बालक की माता केवल शारीरिक रूप से शिशु को जन्म देती है किन्तु गुरु बालक को मानसिक रूप से नवीन जन्म देता है अथवा उसे सच्चे अर्थों में मानव बनाता है इसी कारण शिष्य अपने गुरु से तेज, वीर्य ओज, बल, मन्यु एवं धैर्य शक्ति पाने की अभ्यर्थना करता हुआ दृष्टगत होता है—

तेजो सि तेजो मयि धेहि,  
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि,  
बलमसि बलं मयि धेहि,  
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि,  
सहा सि सहो मयि धेहि।<sup>23</sup>

वैदिक युगीन युग—शिष्य के सम्बन्ध अत्यन्त मधुर एवं घनिष्ठ होते थे। वैदिक युग में गुरु एवं शिष्य के मध्य पिता एवं पुत्र की भाँति सम्बन्ध रहते थे। आश्रम में रहकर शिष्य को अपने गुरु का संरक्षण प्राप्त होता था। वस्तुतः गुरु पिता से कहीं अधिक दायित्वों का निर्वहन करते थे किन्तु गुरु छात्रों की भौतिक आवश्यकताओं के साथ—साथ उनके सर्वांगीण विकास का दायित्व भी निर्वहन करते थे। गुरु विद्यार्थी को कुशल, व्यवहारिक, सक्षम, कार्यशील, सजग, ज्ञानी एवं उत्तरदायी नागरिक, बनाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश के योग्य बनाते थे। ऐसे पिता तुल्य गुरु को पाकर शिल्प भी गुरु के प्रति विनम्रता, अनुशासन एवं आज्ञाकारिता के पुत्रवत् कर्तव्यों का निर्वहन करते थे। गुरु सेवा शिष्य का सबसे बड़ा धर्म माना जाता था। वैदिक युग में यह धारणा व्याप्त थी कि बिना गुरु की सेवा किये सरस्वती प्रसन्न नहीं होती है। गुरु की सेवा के अन्तर्गत भिक्षा लाना, अग्नि परिचर्या, घर का काम, गो सेवा आदि करना सम्मिलित था। शिष्य न केवल गुरु की वरन् गुरु—पत्नी की भी सामर्थ्यानुसार सेवा श्रुषा करते थे। गुरु आदर्श संरक्षक के रूप में अपने विद्यार्थियों की संपूर्ण दिनचर्या का ध्यान रखते थे। गुरु एवं शिष्य में संरक्षक एवं संरक्षित का सम्बन्ध देखने को मिलता है। यदि गुरु अस्वस्थ हो जाये तब शिष्य गुरु के प्रति अपना सेवा धर्म निबाहते थे और शिष्य के बीमार होने पर गुरु उनका पूरा ध्यान रखते थे। वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति में गुरु शिष्य संरक्षक एवं संरक्षित की स्थिति के अनुरूप एक दूसरे की असुविधा, कष्ट एवं अशान्ति का ध्यान रखते थे।

## Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika

वैदिक युगीन शिक्षण का स्वरूप कुछ इस प्रकार का था कि गुरु एवं शिष्य के मध्य परस्पर पूर्णतः उन्मुक्त सम्बन्ध होते थे। जिससे गुरु एवं शिष्य के मध्य मित्रवत् सम्बन्ध पनपते थे। मैत्री भाव के कारण ही तद्युगीन शिष्य अपने गुरु से प्रत्येक बात निःसंकोच रूप से कह सकते थे। गुरु भी स्नेह भाव से शिष्यों की समस्याओं का समाधान करते थे। परस्पर मित्रवत् सम्बन्ध के परिणामस्वरूप विद्यार्थियों में करुणा, प्रेम, मैत्री, सहानुभूति एवं सहयोग जैसे मानवीय गुणों का संचार एवं विकास होता था। शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह गुरु के उपदेशों, प्रवचनों एवं वेद व्याख्या को ध्यानपूर्वक धैर्य सहित श्रवण करे, गुरु के ज्ञान का मनन करना एवं उन्हें जीवन में ढालना शिष्य का परम कर्तव्य था। शिष्यों के समक्ष आदर्श उदाहरण बनने के लिए गुरु स्वयं भी कठोर नियंत्रित जीवन का आचरण प्रस्तुत करते थे।

तद्युगीन गुरु एवं शिष्य के सम्बन्ध निःस्वार्थ भाव वाले होते थे। गुरु निःस्वार्थ भाव से शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते थे और शिष्य उनकी सेवा किया करते थे। गुरु के प्रति शिष्य का भाव अत्यन्त पावन और उदात्त था, गुरु भी अपने शिष्य के प्रति अत्यधिक स्नेहशक्ति और सम्मानयुक्त होता था। ऐसी मान्यता थी कि शिष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने आचार्य को पितृ और मातृतुल्य माने तथा किसी भी अवस्था में उसके प्रति द्रोह न करें (तं मन्यते पितरं मातरं च तस्मै न द्रुम्हत्कतमच्चनाह)<sup>24</sup>

मनुस्मृति के अनुसार बालक के दो जन्म होते हैं। इसी कारण उसे 'द्विज' कहा जाता है। पहला जन्म माता के गर्भ से और दूसरा जन्म 'उपनयन संस्कार' से होता है। द्वितीय जन्म में उसकी माता गायत्री (मंत्र) तथा पिता आचार्य होता है—

तत्र पद ब्रम्ह जन्मास्य मौजीबन्धन निहिन्तम्,।

तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्चते।।<sup>25</sup>

इस प्रकार शिष्य आचार्य कुल में रहकर विविध प्रकार के कर्तव्यों दायित्वों एवं सम्बन्धों का निर्वहन करता था। जब शिष्य आचार्य के लिए भिक्षावृत्ति अपनाता था तब वह अपनी विनम्रता और सेवाभाव प्रदर्शित करता था, जब वह समिधा दान करता था। तब वह अपनी आत्मा और मन को तेज ब्रम्हवर्चस् से दीप्त करता था। वह शरीर, वचन, बुद्धि—इन्द्रिय और मन को वश में करके गुरु के सम्मुख खड़ा होकर उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करता था।<sup>26</sup> वह गुरु से नीचे के आसन पर बैठता था तथा उसके नाम का उच्चारण नहीं करता था। गुरु की शुश्रूषा करना उसका प्रधान कर्तव्य था। (गुरुशुश्रूषा ज्ञानं भाति योगेन विन्दति)।<sup>27</sup> इससे उसे अभीष्ट (विद्या) की प्राप्ति होती थी। गुरु बालक का आध्यात्मिक एवं बौद्धिक जनक माना जाता था। अतः गुरु का यह कर्तव्य होता था कि वह शिष्य के अज्ञानांधकार को दूर कर उसमें ज्ञान की अन्तर्ज्योति जलाए और इसके साथ ही वह शिष्यों में आदर्श चरित्र का समावेश करते हुए उनका सर्वांगीण विकास भी करें।

वैदिक—कालीन शिक्षा में गुरु और शिष्य के मध्य बहुत ही पवित्र और मधुर सम्बन्ध थे। उनका सम्बन्ध परस्पर प्रेम और श्रद्धा पर आधारित था। विद्यार्थी गुरु की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते थे। शिष्य गुरु से नीचे

आसन पर बैठते थे तथा उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे। गुरु को देव—तुल्य समझा जाता था और ईश्वर के रूप में उनकी स्तुति की जाती थी—

“आचार्य देवो भव”।

शिक्षक विद्यार्थियों से पिता—तुल्य व्यवहार करते थे और शिष्य अपने को गुरु के परिवार का ही सदस्य मानते थे। दोनों के मध्य बड़े सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे। संस्कृत के एक श्लोक में गुरु की महिमा इन शब्दों में वर्णित की गई है—

गुरुर्ब्रम्हा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात् परं ब्रम्ह, तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

इस प्रकार गुरु—भक्ति आध्यात्मिक उन्नति का एक महानतम् साधन थी। गुरु—शिष्य के स्वास्थ्य तथा भोजन—वस्त्र की व्यवस्था करते थे। शिष्य के अस्वस्थ होने पर उसकी सेवा करते थे। शिष्य के समक्ष जीवन का आदर्श उपस्थित करते थे तथा उसके शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का ध्यान रखते थे। गुरु शिष्य के मध्य वह पवित्र सम्बन्ध केवल शिक्षा काल तक ही सीमित न थे वरन् उसके उपरान्त भी सम्बन्धों में वही पवित्रता बनी रहती थी।<sup>28</sup>

### उद्देश्य

वैदिक युगीन शिक्षा के मुख्य उद्देश्य है कि आदर्श, ईश्वर भक्ति और धार्मिकता की भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास नागरिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन नागरिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और प्रसार करना है।

### निष्कर्ष

दोनों (गुरु एवं शिष्य) के मध्य पारस्परिक मधुर सम्बन्ध ही शिक्षा प्राप्ति का "सेतु बनते हैं जिससे व्यक्ति का समस्त बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास करना, मानसिक विकास एवं समाज के नैतिक मूल्यों, आदर्शों को संचालित करने हेतु योग्य बनाना।"

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सारस्वत, मालती एवं गौतम, आर० एस० भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामाजिक समस्याएं, आलोक, प्रकाशन, लखनऊ, इलाहाबाद, पृष्ठ—1
2. ऋग्वेद, सरस्वती सूक्त 3.10.12, वैदिक संशोधन मण्डल वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना पृष्ठ, 1946।
3. अल्टेकर, अनंत सदाशिव, (उद्धृत) अवस्थी शशि: प्राचीन भारतीय समाज, दिल्ली 1993, पृष्ठ 116।
4. जोशी, सुषमा: भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास एवं समस्याएँ (2007) शारदा पुस्तक भवन (इलाहाबाद), पृष्ठ—1।
5. सारस्वत मालती एवं गौतम, आर०एस०एल०, भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामाजिक समस्याएं आलोक प्रकाशन, लखनऊ, इलाहाबाद—पृष्ठ—1
6. जोशी, सुषमा: भारत में शिक्षा प्रणाली का विकास एवं समस्याएँ (2007) शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद, पृष्ठ—5
7. अथर्ववेद, 1.15.17 “आचार्यो ब्रम्हचर्यणः(अंग्रेजी अनुवाद) ग्रिफिय, आर०टी० एच०, हाइम्स ऑफ अथर्ववेद, चौखम्बा संस्कृत, सीरीज, वाराणसी, 1968।
8. अवस्थी, शशि: पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 122।

9. अथर्ववेद-1.05.03 |
10. भिक्ष, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1999, पृष्ठ 510 |
11. पाण्डेय, रामशकलः प्राचीन भारत के शिक्षा मनिवी, शारदा पुस्तक भंडार, इलाहाबाद, 2001, पृष्ठ 1 |
12. ऋग्वेद, 1964 |
13. अवस्थी, शशि पूर्वोद्धत, पृष्ठ 125 |
14. पाण्डेय, रामशकलः पूर्वोद्धत, पृष्ठ 39-41 |
15. ऋग्वेद, 6.3.36.4 |
16. छांदोग्य उपनिषद् 2.23 |
17. अवस्थी, शशि: पूर्वोद्धत, पृष्ठ 124 |
18. ऋग्वेद, 21945-5 |
19. ऋग्वेद, 8.43 |
20. भिक्ष, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पटना, 1999, पृष्ठ 512 |
21. |
22. ऋग्वेद, 21.146.1 |
23. अथर्ववेद 11.5.3 |
24. यजुर्वेद 19.9 |
25. निरुक्त, 2.4 |
26. मनुस्मृति, 2.167.70 | (टीकाकार) पाण्डेय, रामनिहोर, प्राच्य विद्या, इलाहाबाद, -2003 |
27. मिश्र, जयशंकर, पूर्वोद्धत, पृष्ठ 513 |
28. महाभारत, 5.36.53 |